॥ सद्गुरु-प्रसाद ॥

परमपूज्य
महात्मा श्री रामसिंह जी महाराज

के

उर्दू में लिखित आध्यात्मिक लेखों

का

व्याख्या सहित हिन्दी अनुवाद

प्रकाशक :
राम समाधि मंदिर
मनोहरपुरा, वाया मालवीय नगर
जयपुर-३०२०१७

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन
(पुस्तक का कोई भी अंश बिना प्रकाशक की अनुमति के न छापा जाए)

कम्प्यूटर टाइप सेटिंग :
जौली क्रियेशन्स (प्रकाशन विभाग)
3/18, मालवीय नगर, जयपुर- 302017

www.jollycreations.com
E-mail : anupamjolly@hotmail.com

समर्थ सद्‌गुरु महात्मा रामचन्द्र जी

(ऊर्फ लाला जी महाराज)

जन्म : 2 फरवरी 1873 ई०—निवार्ण 14 अगस्त, 1931 ई०

समर्थ सद्गुरु महात्मा रघुबर दयाल जी

(ऊर्फ चच्चा जी महाराज)

जन्म : 7 अक्टूबर, 1875 ई०—निवार्ण 7 जून, 1947 ई०

परमसन्त ठाकुर साहिब श्री रामसिंह जी

जन्म : 3 सितम्बर 1898 ई०—निवार्ण 14 अगस्त, 1971 ई०

विषय सूची

		पृष्ठ संख्या
1.	प्रार्थना	1
2.	सन्तमत और सद्‌गुरु	2
3.	मेरे गुरु—भगवान का आदर्श–जीवन	5
4.	मेरे गुरु—भगवान की अमृतवाणी	7
5.	परमानन्द की अमृतधारा	10
6.	वैष्णव धर्म की व्याख्या	14
7.	वैष्णव भक्त की दशा	14
8.	भक्त की अभिलाषा	15
9.	भक्त की होली	15
10.	भक्त और नास्तिक में भेद	18
11.	भगवद्–प्रेम की महिमा	23
12.	आत्मनिवेदन	25

प्रार्थना

का मुख से विनती करूँ, लाज आवत है मोहि ।
तुम देखत अवगुन करौं, कैसे भावौं तोहि ।।

हे गुरुदेव, आपके सम्मुख होते लज्जा आती है और अपने अवगुणों पर खुद शर्म आती है किस मुख से आपकी उपासना करूँ। आपके उपकारों को मैंने भुला दिया और अपने मन को वृथा दुनिया में लगा दिया। लेकिन सिवा आपके इस कृतघ्न को कौन शरण में लेगा और अभयदान देगा।

प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो,
समदरसी है नाम तिहारो
चाहे तो पार करो

साँईं से सब होत है, बंदे से कुछ नाहिं ।
राई से परबत करै, परबत राईं समाहिं ।।

जाको राखे साँइया मारि सकै नहिं कोय ।
बाल न बांका करि सकै, जो जग बैरी होय ।।

शिष्य तुम्हारा हूँ प्रभो, दुःख.शोक दो टार ।
मैं तो तेरा दास हूँ, मुझको नहीं बिसार ।।

सन्तमत और सद्गुरु

कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग इन तीनों का सार लेकर महापुरुषों ने अधम जीवों के उद्धार के लिए एक सरल साधना–पद्धति प्रचलित की है जिसको 'सन्तमत' कहते हैं। इसमें तीनों का सार–तत्व अत्यन्त सुन्दरता के साथ मिलाकर ऐसा सरल ढंग खोजा गया है जिस पर चलने से बड़ी सरलता से सभी कार्य सिद्ध (पूर्ण) हो जाते हैं। इसमें कर्म, भक्ति, उपासना, ज्ञान –सब अपने अपने स्थान पर रखे गए है। इन महापुरुषों को हमारा कोटिशः धन्यवाद है। इनको विभिन्न भाषाओं में ऋषि, महर्षि, गुरु, जगद्गुरु, अवतार, वली, गौशुलआज़म, पैगम्बर, रसूल इत्यादि कहते हैं। जब तक आदमी में अपनापन बना है, उस समय तक उसे वही काम करना रुचिकर लगता है जिससे उसको सुख प्राप्त होता हो वह उससे प्रेम करना चाहता है जो अपना–सा हो और उसको भी प्रेम उससे हो–

कुनद हम जिन्सबा हमजिन्स परवाज़,
क़बूतर बा क़बूतर बाज़ बा बाज़।

(कहते हैं कि एक ही प्रकार के पक्षी आपस में एक साथ उड़ते हैं। कबूतर कबूतरों के साथ और बाज़ बाज़ों के साथ।)

इस प्रकार इस भक्ति के मार्ग में मनुष्य ऐसे ही पथ. प्रदर्शक अर्थात् सतगुरु से प्रेम करना चाहता है जो उसका–सा ही गृहस्थ–जीवन व्यतीत कर रहा हो और जिसने अपने इसी गृहस्थ–जीवन में भगवत–प्रेम रूपी आदर्श को प्राप्त कर लिया हो और स्वयम् उसका जीवन आदर्श जीवन बन गया हो। इस प्रकार मनुष्य ज्ञान और भक्ति के क्षेत्र में भी अपने कल्याण के लिए अपनी रुचि के अनुसार ही अपना–सा जीवन व्यतीत करने वाला ऐसा सद्गुरु ढूँढ़ता है जिससे वह प्रेम कर सके और वह सद्गुरु भी उससे प्रेम करे। (इसी भाव को महात्मा रामसिंह जी महाराज ने फारसी भाषा की उक्त दो पद्य–पंक्तियों में व्यक्त किया है। अब निम्नांकित पक्तियों मे वह इसी सन्दर्भ में सद्गुरु की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं) :–

"सद्‌गुरु या आत्मगुरु वह होता है, जो अपना सम्पूर्ण जीवन उस उपदेश और शिक्षा के अनुसार व्यतीत करे जो वह लोगों को देता है। यदि कोई व्यक्ति श्रेष्ठ से श्रेष्ठ उपदेश देवे परन्तु अपने जीवन में उसका अनुसरण न करे तो लोगों को उस पर विश्वास नहीं होता, वरन् ऐसी धारण बन जाती है कि ये केवल कहने की बातें हैं, इनका अनुसरण करना असम्भव है। आजकल अधिकतर ऐसे ही लोग पाये जाते हैं। इनकी गणना गुरु श्रेणी में नहीं हो सकती है वरन् ये पंडित और विद्वान कहे जा सकते हैं या उपदेशक की श्रेणी में आते हैं।

पंडित और मशालची इनको सूझे नाहिं।
औरों को करे चाँदना आप अँधेरे माहिं।।

अतः जो सज्जन गुरु बनना चाहते हैं उनको चाहिए कि जो सत्य उपदेश उनको मिला है, उसका स्वयम् जीवन में अनुसरण करें। इससे उनको भी लाभ होगा और जो लोग उनसे उपदेश लेंगे उनको भी लाभ होगा। जिज्ञासु को भी गुरु बनाने से पूर्व इस बात की खूब छानबीन कर लेनी चाहिए कि जिसको वह गुरु बनाना चाहते हैं, वह केवल पंडित है (शास्त्रों का खूब अध्ययन करने वाला) या यथार्थ में गुरु है; अर्थात् उन ग्रन्थों में वर्णित बातों का अपने व्यवहारिक जीवन में उसी प्रकार अनुसरण भी करता है।

दूसरी बात जो संतमत के गुरु में पाई जाती है वह यह है कि वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष –चारों का उपदेश दे जिससे कि मनुष्य इस संसार में सुख–शान्ति का जीवन व्यतीत करे और मृत्यु के पश्चात् निर्वाण की स्थिति में पहुँच जाए। उधार का धर्म फैलाने वाले उपदेशक संसार में बहुत मिलते हैं, जो अपने शिष्यों से नाना प्रकार की सेवाएँ लेते हैं और उनसे ऐसे कठिन कार्य करने को कहते हैं कि उनसे तौबा ही भली (अर्थात् वैसे कार्य न किए जाने में ही कल्याण है)। ऐसे उपदेशकों से न इस संसार में कुछ लाभ है और परलोक में क्या होगा, यह ईश्वर ही जानता है। अतः धर्म में भी नकद–धर्म उधार–धर्म की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होता है और ऐसा गुरु जो नकद–धर्म की शिक्षा प्रदान करे, सिद्धान्ततः लोगों को अधिक प्रिय होता है। (यहाँ उधार धर्म से आशय यह है कि ऐसा धर्म जो हमें इसी संसार में इस जीवन में किसी प्रकार की सुख.शांति प्रदान करने की अपेक्षा भविष्य जीवन या परलोक में सुख.शांति मिलने का आश्वासन दे)।

भविष्य के आश्वासनों पर इस वर्तमान जीवन को नष्ट करना, और फिर ऐसी दशा में कि उनके विषय में पर्याप्त भरोसा भी न हो, कुछ अधिक बुद्धिमानी का काम नहीं है; विशेषकर आजकल के समय में जब एक ही बाज़ार (अर्थात् इसी संसार) में विभिन्न दुकानों (विभिन्न प्राचीन धर्मों और सम्प्रदायों) द्वारा भिन्न–भिन्न प्रकार के सुख–शांति प्रदान करने वाले प्रलोभनों से युक्त बड़े–बड़े आश्वासन दिये जा रहे हैं। कोई कहता है कि हमारे लॉटरी के टिकट का मूल्य केवल छः रुपय चार आना है, जिसे खरीदिए और अपने भाग्य की परीक्षा कीजिये, इसमें आप को पाँच लाख तक का इनाम मिल सकता है। दूसरा कहता है कि हमारा घोड़ा (घोड़ों की दौड़ में) प्रथम आयेगा। उसके नाम से पाँच रुपये का टिकट खरीदिए –इसमें यदि आप का भाग्य साथ दे तो दस लाख का ईनाम मिल सकता है। सारांश यह है कि ऐसी दशा में बुद्धि काम नहीं करती कि क्या करना चाहिए। अतः अधिक अच्छा यही है कि भविष्य की आशा पर नकद रुपये को नष्ट न करें। भाग्य की परीक्षा से बच कर पाँच रुपये का अनाज खरीद लें ताकि कम से कम महीना भर विश्वास के साथ बच्चों को सूखी रोटी दे सकें। हाँ जिन लोगों के पास अधिक धन है, अर्थात् अपना जीवन ऐश व आराम से व्यतीत करने के अलावा जिनके पास अतिरिक्त धन है, वह लाटरी खरीदनें में उसे खर्च करें तो उसके लिए सम्भव है कि ऐसा करना उचित हो।

इस कथन का आशय यह है कि हमारे पास बहुत थोड़ा जीवन है। इस अल्प जीवन रूपी थोड़ीसी पूँजी को छीनने के लिए चोर, डाकू , बीमारी इत्यादि लगे हुए हैं, ईश्वर जाने कब इस थोड़ी सी पूँजी को छीन लें। अतः शीघ्र से शीघ्र नकद सौदा कर लेना चाहिए। अतः ऐसी दूकान जहाँ नकद सौदा मिलता है वहाँ अपनी पूँजी को दे देना चाहिए। सारांश यह है कि जहाँ इस संसार में सुख. शान्ति प्राप्त हो अर्थात् जिस महापुरुष की शरण में जा कर हमें सुख. शान्ति प्राप्त हो और भविष्य में मोक्ष प्राप्त होने का विश्वास हो वहीं अपने आप को बेच डालना चाहिए अर्थात् ऐसे महापुरुष अर्थात् सद्गुरु की शरण में पहुँच कर अपने आप को पूर्ण रूप से समर्पित कर देना चाहिए। राजकीय सेवा लोग इसीलिए अधिक पसंद करते हैं क्योकि वहाँ मासिक वेतन मिलता है और रिटायर होने के पश्चात् पेंशन। मुझे उपर्यक्त बात अपने गुरुदेव से ज्ञात हुई और उनकी दासता स्वीकार कर ली। परमात्मा की अपार दया से मेरा विश्वास उनके चरणों में नित्य बढ़ता जाता है और परमात्मा सें प्रार्थना है कि उसमें सदैव वृद्धि ही होती जाये।

मेरे गुरु—भगवान का आदर्श जीवन

आपका (मेरे पूज्य गुरुदेव महात्मा रामचन्द्र जी महाराज उर्फ पूज्य लाला जी साहब) का जीवन एक आदर्श जीवन था जो हर. एक बात से सबक (नसीहत) देता था। मुझको तीन वर्ष आपकी सेवा में रहने का अवसर मिला। कभी उनका कोई व्यवहार या कार्य ऐसा देखने में नहीं आया कि जिससे कोई नसीहत (शिक्षा) न मिले। स्थितप्रज्ञ की जो प्रशंसा अर्थात् विशेषता गीता में दी हुई है उसके वास्तविक अर्थ आपके जीवन से समझ में आते थे।

महात्मा रामसिंह जी महाराज ने अपने पूज्य सत्गुरुदेव महात्मा रामचन्द्र जी महाराज के उच्च आदर्श जीवन की प्रशंसा करते हुए यह लिखा है षस्थितप्रज्ञश की प्रशंसा गीता में जो दी हुई है उसके वास्तविक अर्थ आपके जीवन से समझ में आते थे।'' इस विषय में 'स्थितप्रज्ञ' शब्द का प्रयोग गीता के अध याय 2 में किया गयाहै जिसका शाब्दिक अर्थ होता है 'स्थिर बुद्धि वाला' इसी अध्याय के श्लोक 54 में अर्जुन भगवान कृष्ण से यह प्रश्न पूछता हैं :–

''हे केशव ! परमात्मा में स्थित 'स्थितप्रज्ञ' पुरुष के क्या लक्षण हैं ? वह कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ?''

अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर भगवान कृष्ण अगले श्लोक 55 से 58 तक में इस प्रकार देते हैं :–

''हे पार्थ ! जब मनुष्य अपने मन में गति करने वाली सब कामनाओं को त्याग देता है और जब वह अपने आप से अपने में ही संतुष्ट रहने लगता है (अपने संतोष के लिये बाहर के विषयों पर आश्रित नहीं रहता) तब वह (स्थितप्रज्ञ) (स्थिर बुद्धि वाला) कहलाता है। जिसका मन दुःखों में उद्विग्न बैचेन नहीं होता, सुखों में जिसकी लालसा मिट जाती है, वह स्थिर बुद्धिवाला व्यक्ति 'मुनि' अर्थात् (मौन स्वभाव वाला) कहलाता है। जिसे किसी वस्तु के प्रति स्नेह नहीं होता, अशुभ को प्राप्त करके अप्रसन्न नहीं होता, उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) दृढ़ता से स्थिर हो गई है। जैसे कछुआ अपने अंगो को सब ओर से सिकोड़ कर अपने खोल में अन्दर खींच लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के विषयों में से अपनी इन्द्रियों को खींच लेता है तब समझो कि उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) स्थिर हो गई है।''

उक्त अनुच्छेद के तारतम्य में महात्मा रामसिंह जी महराज अपने पूज्य गुरुदेव महात्मा रामचन्द्र जी महराज के आदर्श जीवन की प्रशंसा में अपनें हार्दिक उद्गार निम्नांकित पक्तियों में प्रकट कर रहे हैं :–

आपके जीवन से जो शिक्षा मिलती थी उसका संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है :– संसार में रहो, संसार के सब पदार्थ भोगो, परन्तु उनमें संग (आसक्ति) पैदा न करो। संसार के सब आवश्यक कार्य करो परन्तु कर्त्तव्य बुद्धि से,फल की इच्छा से नहीं। न तुम्हारा किसी से राग हो, न द्वेष। शरीर को नाशवान जानो। आत्मा को अविनाशी समझो। द्वन्द्व यानी गर्मी–सर्दी, लाभ–हानि, जीत–हार, अपमान–स्तुति इत्यादि को आने–जाने वाले समझ कर उनको सहन करो। सदैव मन प्रसन्न रखो, चित्त शांत रखो और बुद्धि को स्थिर। काम, क्रोध, लोभ, मोह को जीत कर निष्काम कर्म करो और शुद्ध मन और बुद्धि द्वारा आत्म–साक्षात्कार करो। इस लोक में जीवन–मुक्त मनुष्य की क्या दशा होती है और इस बात का कैसे विश्वास किया जाए कि हमको मुक्ति प्राप्त होगी, जन्म–मरण के द्वेष से व्यक्ति कैसे छूटता है, और मृत्यु के पश्चात् परम–पद अर्थात् मुक्ति कैसे प्राप्त होती है, जन्म–मरण के क्लेश से मनुष्य सदा के लिये कैसे छुटकारा पाता है– यह आत्म–शिक्षा आपके (जनाब लाला जी साहब के) यहाँ दी जाती है। आपने इस शिक्षा को प्राप्त करके अपने जीवन में ज्यों का त्यों उतार लिया था। इसलिये आप मुज़स्सम तालीम (मूर्तिमान शिक्षा) ही बन गये थे। दुनिया में पर उपदेश कुशल बहुतेरे जे आचरहिं ते नर न घनेरे (अर्थात् दुनिया में दूसरों को उपदेश देने वाले तो बहुत हैं पर उन उपदेशों का अनुसरण करने वाले बहुत ही कम हैं)। आप उन विशेष महापुरुषों मे से थे जिन्होंने इस आत्म–शिक्षा को नियमित रूप से अपने गुरुदेव से प्राप्त करके उसके स्वयं अनुसरण करने वाले बने और उसको ज्यों का त्यों अपने जीवन में उतारा। यही कारण है कि आपकी रहनी–सहनी से एक विशेष असर पैदा होता था, जो अधिक समय तक अभ्यास करने पर भी कठिनाई से प्राप्त होता है, मानो आपका जीवन और उपदेश एक दूसरे के ठीक अनुकूल थे। इसलिये आप श्रेष्ठ और पूर्ण समर्थ सद्गुरु थे।

मेरे गुरु—भगवान की अमृत वाणी

आपका पहला उपदेश यह था कि फल की इच्छा से काम न करो वरन् अपना कर्त्तव्य या धर्म समझ कर काम करो और अपने कर्त्तव्य.पालन में कभी सुस्ती न करो। इसका क्या परिणाम होगा इसकी चिंता मत करो। तुमको कर्म करने का अधिकार है, फल तुम्हारे अधिकार में नहीं है—वह परमात्मा के अधिकार में है। परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और न्यायकारी है। इसलिये यह हो ही नहीं सकता कि तुम अपना कर्त्तव्य.पालन ठीक प्रकार से करो और फिर तुम्हें उसका फल न मिले। अतः ईश्वराधीन होकर, अर्थात् उस परमपिता प्रभु पर पूर्ण विश्वास और निश्चय करके, अपनी सम्पूर्ण शक्ति अपना कर्त्तव्य.पालन करने में लगानी चाहिये; फिर तुम्हारा बेड़ा पार है। तुम्हें न पुण्य प्राप्त होगा और न तुमसे पाप होगा, और न ऐसा कर्म तुम्हारे लिये बन्धन का कारण होगा; तुम सदा कमल के पत्ते के समान निर्लेप रहोगे। पूज्य गुरुदेव अपने जीवन में इस उपदेश का पूर्ण रूप से अनुसरण करते थे और उनके सम्पूर्ण जीवन में यह बात पाई जाती थी। आपने कर्म.फल की इच्छा से कोई काम नहीं किया और न कभी किसी कर्त्तव्य से मुँह मोड़ा, चाहे वह कर्म नितांत छोटा हो या बड़ा। आप सदैव समता—भाव या स्थितप्रज्ञ अवस्था में स्थित रहे।

दूसरा उपदेश जो आपके जीवन का आदर्श था, वह यह था कि किसी पुरुष या वस्तु से संग अर्थात् राग पैदा न करो। ऐसी स्थिति में उस पुरुष या वस्तु से वियोग होने पर तुम्हें कोई रंज या दुःख नहीं होगा। इसके अनेकों उदाहरण आपके जीवन में मिलते हैं, जिनका वर्णन करने से विषय लम्बा हो जायेगा। यदि ईश्वर ने अवसर दिया तो किसी समय अलग से इन घटनाओं का वर्णन किया जायेगा।

आपमें यह विशेष बात थी कि हरएक व्यक्ति जिसका तनिक. सा भी सम्बन्ध आपसे था वह यह समझता था कि मुझको आप सबसे अधिक प्यार करते हैं और जो मैं चाहूँ आपसे अपनी

इच्छानुसार करा सकता हूँ। यहाँ तक आप पर भरोसे का विचार लोगों के दिलों में था कि आप अपने लड़के, पत्नी और सगे–संबंधियों से अधिक उन्हें चाहते हैं। प्रायः लोग उनकी शिकायतें आप से बिना भय के करते थे। आप की विशेषता यह थी कि आप सदैव हर व्यक्ति के हृदय को प्रसन्न रखते थे और धर्म से विमुख कभी कोई काम आपने नहीं किया। जिसकी शिकायत होती थी वह भी आपके फैसले (निर्णय) से प्रसन्न होता था और जो शिकायत ले जाता था वह भी प्रसन्न होता था। दोनों लोग प्रसन्न रहते थे और धर्म विरुद्ध कभी कोई बात न आप कहते थे और न करते थे। इसका अनुभव सम्भवतः सभी सत्संगी भाई–बहनों को है, अतः इस विषय को और अधिक विस्तार से नहीं लिखा जा रहा है।

आपका तीसरा उपदेश था कि आत्मा नित्य, शुद्ध, अजर, अमर, अविनाशी है। यह न कोई काम करती है, न इसे कोई पाप. पुण्य, सुख या दुःख होता है। यह केवल साक्षी है। मन ही में इच्छायें उत्पन्न होती हैं, मन ही कर्म करता है या इन्द्रियों द्वारा करवाता है। मन ही पाप पुन्य, सुख या दुःख अनुभव करता है। मन ही के द्वारा यह सारा जगत हमारे लिये बनता है और बिगड़ता है। इसलिये हमारी सारी शक्ति मन को स्वच्छ, निर्मल और पवित्र बनाने में लगानी चाहिये। इसकी विशेष शिक्षा का प्रबन्ध आपके यहाँ था। ऋषियों की यह आत्म–शिक्षा जो उपनिषद्, गीता और रामायण में वर्णित है और जिसको सन्तजन हृदय में उतारते चले आये हैं; अति उत्तम और आधुनिक ढंग से आप अपनी निजदयालुता व कृपालुता से अपने हर शिष्य को देते थे; जिसका विस्तृत वर्णन, यदि ईश्वर ने अवसर दिया तो अलग से किया जावेगा। अभ्यास व वैराग्य का सरल और आसान उपाय हर सज्जन की प्रकृति और सामर्थ्य व समय के अनुसार बतला कर उसका प्रयोग कराते थे; जिससे लोगों को तत्काल और वास्तविक लाभ होता था। आपके यहाँ एक नई बात जो अन्यत्र बहुत कम पाई जाती है, यह थी कि हर व्यक्ति को एक ही ढंग से आत्म.शिक्षा नहीं दी जाती थी वरन् हरएक व्यक्ति के लिये उसकी योग्यता अनुसार अलग–अलग उपाय बतलाया जाता था ।आपकी योग्यता व जानकारी अत्यधिक

थी। सभी प्रचलित तरीकों की आत्म–शिक्षा में आपको निपुणता प्राप्त थी। और इनके सारतत्व आपने निकाल लिये थे। जिसको जिस प्रकार लाभ होता आप उसको उसी प्रकार से शिक्षा देते थे, जिसका परिणाम बहुत ही शीघ्र यह होता था कि मन एकाग्र होकर आत्मा का चिन्तन करने लगता था और आत्म रुप होने लगता था, जिससे ज्ञान का प्रकाश होकर शीघ्र ही साधक जीवन–मुक्त अवस्था पर पहुँच जाता था।

आपका कहना था कि मन की शुद्धता और पवित्रता के लिये यह आवश्यक है कि हम नेक कमाई का अन्न खायें । हमारा आहार. व्यवहार व आचार (आचरण) शुद्ध हो। परन्तु आपकी शिक्षा का ढंग कुछ विचित्र ही था और आपके व्यक्तित्व का ऐसा स्नेहपूर्ण प्रभाव था कि आप इन बातों को करने के लिये मौखिक रूप से प्रायः निर्देश नहीं देते थे; परन्तु साधक फिर भी अपने आप ही इस ओर आकर्षित होकर स्वयं इन बातों को करने लगता था। सकाम कर्म करने वाले हम अधम पुरुषों को आप बिना मौखिक निर्देश दिये ही किस प्रकार निष्काम कर्म की ओर ले जाकर उसको साधक अर्थात् निष्कामकर्म करने वाला बना देते थे, यह अब तक साधारण मनुष्यों के लिये एक रहस्य ही है । यह स्पष्ट है कि सकाम–कर्म कितना भी अच्छा हो उसमें विघ्न और पाप होने की आशंका रहती है, जिससे मन पर मल–विक्षेप और आवरण पड़ जाता है। परिणाम यह होता है कि हमारे अन्दर अज्ञान का पर्दा पड़ जाता है और हमारा विवेक ठीक नहीं रहता। यही मूढ़ता और दुःख का कारण है। सकाम.कर्म में यदि हमें सफलता प्राप्त हुई तो हमें अहंकार हो जाता है और यदि असफलता प्राप्त हुई तो दुःख होता है। इसके विपरीत निष्काम–कर्म में हमें सफलता और असफलता दोनों ही की चिंता नहीं रहती। इसलिये यथार्थ कर्मयोग और मुक्ति का साधन निष्काम–कर्म ही है।

i jekuUn dh ve`r&/kkjk

अमृत–धारा तीन वस्तुओं से मिलकर बनती है। सत अजवाइन, कपूर और पिपरमेंट (जो अलग–अलग रहने पर साधारण वस्तुएँ है, परन्तु तीनों एक साथ मिल जाने पर एक द्रव पदार्थ के रूप में परिवर्तित हो जाती है– यही द्रव पदार्थ अमृत–धारा कहलाता है। वैद्यकशास्त्र में इस अमृत–धारा से शरीर के कई जटिल रोगों का उपचार किया जाता है)। जिस प्रकार इन तीनों वस्तुओं को मिलाकर अमृत–धारा तैयार की जाती है। इसी प्रकार अमृत–आनन्द अर्थात् परमानन्द प्राप्त करने के लिए भी तीन वस्तुओं की आवश्यकता है–

ईश्वरकृपा, गुरुकृपा और निजकृपा। जब ये तीनों मिल जाते है तो अमृत् आनन्द अर्थात् परमानन्द की अनुभूति होने लगती है। हमको ईश्वर कृपा और गुरुकृपा प्राप्त है। निजकृपा जो कपूर के समान है इन दोनों में मिलाकर परमानन्द रूपी अमृत्धारा बना लो। निजकृपा जो कपूर के समान है वैसे भी उड़ जायेगी क्योंकि हर व्यक्ति जानता है कि कपूर उड़ जाने वाली वस्तु है (अर्थात् एक न एक दिन शरीर से प्राण निकलने पर निजकृपा होने या करने का प्रश्न ही नहीं उठता)। आपको अधिकार है कि आप निजकृपा रूपी कपूर को ईश्वर कृपा और गुरुकृपा रूपी पिपरमेंन्ट और सत अजवाइन में मिलाकर परमानन्द रूपी अमृतधारा बना लें या निजकृपा रूपी कपूर को माया रूपी कालीमिर्च के साथ पुडिया में रहने दें। (इस कथन का आशय यह है कि जब मनुष्य को ईश्वर की अहैतुकी कृपा से एक समर्थ सद्‌गुरू मिल जाए तो फिर उसे अपने सद्‌गुरू को पूर्ण रूप से समर्पित करते हुए उनके सतत सतसंग एवं उन्हीं की प्रेरणा से एवं उन्हीं के मार्गदर्शन में ईश्वर की इच्छानुसार अपने सर्वांगीण जीवन के सभी क्रियाकलाप सम्पन्न करने चाहिए। यदि ईश्वर–कृपा और गुरुकृपा उपलब्ध रहने पर भी मनुष्य माया के वशीभूत होकर अपने मन के कहने पर चलता है तो यह निश्चित है कि मनुष्य का निजप्रयत्न व पुरुषार्थ, जो ईश्वर. इच्छा और सद्‌गुरू की इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने में लगना चाहिए था, वह जब माया से प्रेरित जीवन के विभिन्न क्रिया–कलापों के करने में व्यतीत होता है तो ऐसा प्रयत्न व प्रयास एक न एक दिन प्राण छूटने पर स्वयम् भी शरीर के साथ ही नष्ट हो कर मनुष्य को परमानन्द अर्थात् ब्रह्मानन्द की अनुपम अनुभूति से वंचित कर देता है। अब अगली पक्तियों में इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए महात्मा रामसिंह जी महाराज अपने बहुमूल्य विचार इस प्रकार प्रकट करते है :–)

चाहे जितनी भी देख–रेख की जाए यह निजकृपा अर्थात् अपना पुरुषार्थ और प्रयत्न रूपी कपूर (शरीर से प्राण निकलने पर) उड़ जाएगा अर्थात् समाप्त हो जाएगा और किस समय उड़ेगा इसका कोई ठिकाना नहीं। इसी प्रकार यह प्राण और इन प्राणों के साथ हमारी निजकृपा अर्थात् हमारा अपना पुरुषार्थ और प्रयत्न माया से प्रेरित कार्यो में लिप्त रहते हुए कब तक बना रहेगा और किस समय शरीर रूपी खाली बोतल छोड़ कर कपूर की तरह उड़ जायेगा, कुछ पता नहीं। इसीलिए क्यों न इस निजकृपा रूपी कपूर को ईश्वर कृपा और गुरूकृपा रूपी सत अजवाइन और पिपरमेन्ट में मिलाकर अमृत आनन्द अर्थात् परमानन्द रूपी अमृतधारा बना ली जाये।

उक्त कथन का संक्षेप में आशय यह है कि 'मैं–पन' को ईश्वर व गुरु के अर्पण किये बिना सच्ची भक्ति करना, सच्चा प्रेम करना कभी भी सम्भव नहीं है (इसी तथ्य को संत कबीर ने इन पंक्तियों में व्यक्त किया है –

यह तो घर है प्रेम का, खालाका घर नाहिं।
शीश उतारे भुईं धरे, तब पैठे घर माहिं ।।

इन पंक्तियों का भावार्थ यह है कि ईश्वर.प्रेम रूपी घर में प्रवेश पाने के लिए अंहकार रूपी शीश को कटाकर उसको भूमि पर रखना अर्थात् उसे समूल नष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है।)

अहंकार को पूर्ण रूप से भूल जाने पर मैं–पन नष्ट हो जाता है और उसके स्थान पर तू–पन आ जाता है। सब प्रकार के द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं। इन नेत्रों से दृष्टिगोचर होने वाला संसार मानो बिल्कुल लुप्त हो जाता है और अन्त में जो कुछ रहता है वह 'मैं' 'नहीं रहता वरन् 'तू' अर्थात् परमात्मा ही रह जाता है। जिधर देखिये उधर 'मैं' दिखाई नहीं देता। चारों ओर 'तू' ही 'तू' रहता है और हृदय में भी 'मैं' नहीं रहता बस 'तू' ही रहता है। जब यह दशा हो जाती है कि बजाय अपने उसको गुरु ही गुरु दिखलाई देता है, अपनेपन को ढूँढने पर भी पता नहीं चलता, तब साधक को फ़नाफ़िलशैख (शैख अर्थात् गुरु में लीन) होने की अवस्था प्राप्त होती है। उस समय उसको यह अनुभव होता है कि मैं कुछ भी नहीं अपितु मैं हूँ ही नहीं। जो कुछ है सो गुरु ही गुरु है। कुछ साधकों को तो अपना सम्पूर्ण शरीर प्रकट रूप में ऐसा मालूम होने लगता है कि ये सब हाथ, पैर, आँख, कान इत्यादि जैसे गुरुदेव जी के हैं और वैसे ही हो गए हैं। उस साधक को क्या दूसरे लोगों को भी ऐसा मालूम होने लगता है कि गुरु की और उसकी आकृति एक सी हो गई है। हमारे यहाँ सामान्य रूप में

साधकों की ऐसी दशा अभ्यास में प्रायः हो जाया करती है –चाहे वह थोड़े समय के लिए ही क्यों न हो। अब इसी अवस्था को बढ़ा कर सदा के लिए कर लेना साधकों के अभ्यास और प्रेम पर निर्भर है।

इसके पश्चात् जब आन्तरिक विचारों में भी ऐसा अनुभव होने लगता है और जब यही हालत अन्तरात्मा तक उतर जाती है तो उसको फ़नाफ़िल्लाह या ईश्वरमय अर्थात् ब्रह्मलीनता की अवस्था कहते हैं। आशय इसका यह है कि स्थूल–शरीर और कारण–शरीर के टूटने की हालतों के ये (फ़नाफ़िलशैख और फ़नाफ़िल्लाह) पारिभाषिक शब्द हैं।

(महात्मा रामसिंह जी महाराज ने उक्त अनुच्छेद में इस आध्यात्मिक तथ्य को समझाने की कृपा की है कि जब साधक अपने अहंकार को समूल नष्ट करते हुए सद्गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना से जीवन व्यतीत करते हुए उनसे प्रेम करने लगता है, तब सद्गुरु भी अपनी असीम दया–कृपा से शिष्य की आत्मा पर त्रिगुणमयी माया से प्रेरित कर्म करते–करते जो आवरण पड़ जाते है, जिन्हें योग–साधन में कोष कहा जाता है, उन सभी को हटाने और दूर करने को ही स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर का टूटना कहते हैं अर्थात् इन तीनों शरीर पर पड़े हुए आवरणों अर्थात् कोषों का हटना ही इन तीनों शरीरों का टूटना कहलाता है। इन तीनों शरीरों का सूक्ष्म विवरण इस प्रकार है :–

1) स्थूल शरीर जो इन पंचतत्त्वों से निर्मित है – पृथ्वी, आकाश, जल, वायु और अग्नि।

2) सूक्ष्म शरीर जो कि बुद्धि, अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रियों व पंच कर्मेनद्रियों से बना है।

3) कारण शरीर जो कि हमारे सब कर्मो और वासनाओं का आधार है और जिसके कारण हमारे निरन्तर जन्म.मरण होते रहते हैं। इन तीनों शरीरों पर त्रिगुणमयी माया के प्रभाव से पाँच आवरण पड़े रहते हैं जिन्हें ' कोष ' कहते हैं। ये हैं 1. आनन्दमय कोष 2. विज्ञानमय कोष 3. मनोमय कोष 4. प्राणमय कोष 5. अन्नमय कोष

आनन्दमय कोष कारण शरीर का आवरण है। विज्ञानमय कोष, मनोमय कोष और प्राणमय कोष सूक्ष्म शरीर के आवरण हैं। अन्नमय कोष स्थूल शरीर का आवरण है। सन्तमत की साधना में इन आवरणों को कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर से कैसे हटाया जाये; यह एक ऐसा गूढ़ आध्यात्मिक तथ्य है जिसे किसी समर्थ सद्गुरु के सतत सत्संग में रहकर उनकी अहैतुकी कृपा से प्रत्यक्ष अनुभूति के रूप में हृदयंगम किया जा सकता है। वैसे इन विषयों का हमारे विभिन्न उपनिषदों तथा योग.साधना से सम्बन्धित ग्रन्थों में विस्तृत विवरण दिया हुआ है, परन्तु उनको केवल बुद्धि से अध्ययन करने से पुस्तकीय ज्ञान अर्जित करने का झूठा अहंकार ही बढ़ता है। हमारे आध्यात्मिक जीवन के क्रमिक विकास में ऐसे पुस्तकीय ज्ञान से

कोई सार्थक लाभ होने की बजाय बाधा ही उत्पन्न होती है। यही कारण है कि महात्मा रामसिंह जी महाराज ने इस विषय में साधकों को निम्नांकित पंक्तियों में इस प्रकार सचेत किया है) :—

चाहे जिस प्रकार कहो लेकिन शब्दों की अटक में पड़ना सच्चे श्रद्धालु अभ्यासी का काम नहीं है। यह वाचक ज्ञानी पण्डित और मौलवियों के तर्क—वितर्क और मनोरंजन का सामान है। साधक को सार—ग्राही होना चाहिए। जिस प्रकार वादी—प्रतिवादी दोनों के वाद—विवाद को सुनकर न्यायाधीश मुकदमें की यथार्थता को समझ लेता है; वह वकीलों के बात करने के ढंग तथा उनके शब्दों पर कोई ध्यान नहीं देता। इसी प्रकार जिज्ञासु जो, परमसत्य का सच्चा खोजी है उसको इन बातों के विवाद में पड़ने तथा उनकी ओर ध्यान देने के लिए अवकाश ही कहाँ है।

चाहे कर्म—मार्ग हो, चाहे भक्ति—मार्ग हो, चाहे ज्ञान मार्ग हो, सबमे 'अपनापन' छोड कर अपनी तुच्छ कामनाओं और वासनाओं को त्याग कर कर्म रूपी युद्धक्षेत्र में प्रवेश करना होगा और कार्य सिद्ध करने के लिए (भगवान की इच्छानुसार अपने जीवन के सभी कार्य सम्पन्न करने के लिए) दैवीसम्पत्ति में दाखिल होकर (दैवी.गुणों को ग्रहण करके) दुष्ट वासनाओं का नाश करना होगा।

(महात्मा रामसिंह जी महाराज ने उक्त अनुच्छेद की अंतिम पंक्तियों में यह लिखा है कि ' भक्त को भगवत्.कार्य सिद्ध करने के लिए दैवीसम्पत्ति में दाखिल हो कर दुष्ट वासनाओं का नाश करना होगा। दैवीसम्पत्ति (दैवी सम्पदा) और दुष्ट वासनाएँ, जिन्हें 'आसुरी सम्पदा' कहा जाता है, इनका वर्णन गीता के अध्याय 16, श्लोक 1 से 4 तक में किया गया है। गीता के इन्हीं दो शब्दों का प्रयोग महात्मा रामसिंह जी महाराज ने अपनी इन पक्तियों में किया है, जिनका अर्थ इस प्रकार है :— 'भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान के लिए योग में दृढ़ स्थिति, सात्विक दान; इन्द्रियों का दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, कर्त्तव्यपालन के लिए कष्ट सहन, शरीर—मन—वाणी की सरलता, अहिंसा, सत्यभाषण, क्रोध न करना, संसार की कामना का त्याग, अन्तःकरण में राग.द्वेष जनित हलचल का न होना, चुगली न करना, प्राणियों पर दया करना, सांसारिक विषयों से न ललचाना, अन्तःकरण की कोमलता, अनुचित कर्त्तव्य करने में लज्जा और उतावलेपन का आभाव, तेज, क्षमा, शरीर की शुद्धि, वैरभाव का न रहना और मान को न चाहना— ये सभी दैवीसम्पदा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण है और दम्भ करना, घमण्ड करना, अभिमान करना, क्रोध करना, कठोरता रखना और अविवेक का होना — ये सभी आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं। महात्मा रामसिंह जी महाराज ने इन दो शब्दों (दैवीसम्पदा और आसुरीसम्पदा) का प्रयोग करके यह समझाने की कृपा की है कि एक सच्चा ईश्वर.भक्त बनने के लिए हमें ऊपर वर्णित दैवी गुणों को अपने जीवन में अपनाने तथा आसुरी वृत्तियों को त्यागने का सतत प्रयास करते रहना चाहिए)।

वैष्णव धर्म की व्याख्या

प्रह्लाद जी परम वैष्णव हुये हैं । उनका कथन है :– 'हे दैत्य लोगो, तुम सब जगह समदर्शी होओ।' सबको अपने समान जानना ही वास्तव में भगवान विष्णु की सच्ची आराधना है। समदर्शी होने पर विष्णु का नाम न जानने पर भी मनुष्य वैष्णव हो सकता है। जो ईसाई या मुसलमान सभी अवतारों तथा समस्त मानव जाति को अपने जैसा समझता है वह चाहे हजरत ईसामसीह की आराधना करे या हजरत पैगम्बर साहब को माने, वास्तव में वह सच्चा वैष्णव है। परन्तु जिस कंठी–तिलकधारी के हृदय में सबको अपने जैसा देखने का भाव नहीं पैदा हुआ वह वैष्णव कहलाये जाने पर भी वैष्णव नहीं है। मतलब यह कि जिसमें भेदभाव नहीं वह वैष्णव है।

(परमपूज्य महात्मा रामसिंह जी महाराज ने उक्त पंक्तियों में प्रह्लाद द्वारा दैत्यों को दिये गये जिस उपदेश का मूल भाव अपने शब्दों में प्रकट किया है वह श्रीमद्भागवत पुराण के सप्तम् स्कन्ध के सातवें अध्याय के श्लोक 51 से 55 तक में इस प्रकार वर्णित है : ''दैत्य बालको ! भगवान को प्रसन्न करने के लिए ब्राह्मण देवता या ऋषि होना, सदाचार और विविध ज्ञानों से सम्पन्न होकर तथा दान, तप, यज्ञ, शारिरिक और मानसिक शौच ;पवित्राद्ध और बड़े.बड़े व्रतों का अनुष्ठान पर्याप्त नहीं है। भगवान केवल निष्काम प्रेम–भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं। और सब तो विडम्बना मात्र है। इसलिये दानव बन्धुओ। समस्त प्राणियों को अपने समान ही समझकर सर्वत्र विराजमान सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान भगवान की भक्ति करो। भगवान की भक्ति के प्रभाव से दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र, गोपालक, अहीर, पक्षी, मृग और बहुत से प्राणी जीव भी भगवत् भाव को प्राप्त हो गये हैं। इस संसार में या मनुष्य शरीरमें जीव का सबसे बड़ा स्वार्थ अर्थात् एकमात्र परमार्थ इतना ही है कि वह भगवान श्री कृष्ण की अनन्य भक्ति प्राप्त करे। उस भक्ति का स्वरूप है सर्वदा, सर्वत्र सब वस्तुओं में भगवान का दर्शन।)

वैष्णव भक्त की दशा

मैं न ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ और न शूद्र हूँ। न मैं ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थी हूँ, न वानप्रस्थी हूँ और न यती हूँ, बस पूर्ण आनन्दसागर परमदेव श्री गुरुदेव के चरण कमलों के दासों का दासानुदास हूँ।

भक्त की अभिलाषा

है यही मेरी तमन्ना, पूरी गर हो ऐ प्रभो।
रात दिन भजता रहूँ, ईश्वर मैं तेरे नाम को।।

भक्त की होली

मेरे प्यारे ! हिन्दुओं का सबसे बड़ा त्यौहार होली है। यह नया दिन भी है, अर्थात् वर्ष का प्रथम दिन। आज पिछला वर्ष समाप्त होता है और नया वर्ष आरम्भ होता है। लड़के हर गांव और मोहल्ले में पुराना कूड़ा–करकट एकत्र करते हैं, इसको जलाकर होली का आनन्द मनाते हैं और रंग व गुलाल इत्यादि से एक दूसरे को सराबोर करके छाती से छाती मिलाते हैं। भक्त की भी यही होली होती है। वह अपने समस्त पापों और अपराधों को आज एकत्र करता है (उनका स्मरण करता है) और भगवत्–अग्नि रूपी वेदी पर सबको जला देता है अर्थात्, भगवान को अपने समक्ष साक्षात् उपस्थित जानते हुए अपने सभी पुराने अपराधों को उनके सामने वर्णन करता है और उसकी दया और कृपा से क्षमायाचना करता है। इस प्रकार वह अपने समस्त पापों और अपराधों के लिए हार्दिक पश्चात्ताप करता है। भगवान ने उसके पापों को क्षमा कर दिया ऐसा विश्वास करके प्रसन्न होता है और उस पश्चात्ताप रूपी भस्म को सारे शरीर पर मलता है अर्थात् दृढ़प्रतिज्ञा करता है कि भगवान की दया और सहायता से वह अब कभी ऐसे पाप नहीं करेगा। ऐसे पश्चात्ताप के बाद वह अपने प्रेमी (भगवान) के साथ भक्ति रूपी रंग से सुन्दर होली खेलता है।

भगवान के पास दयालुता और कृपालुता का फौहारा और भक्तों के पास दीनता की पिचकारी है। इधर से भक्त प्रार्थना के रंग की बौछार करता है और उधर से (भगवान की ओर से) दया व कृपा का फौहारा खुल जाता है। खूब वर्षा होती है। क्या ही सुन्दर होली है। उधर से दया व कृपा की धार जारी है, इधर भक्त अपनी दीनता रूपी पिचकारी से प्रार्थना रूपी धार फेंक रहा है, यहां तक कि दोनों (प्रेम रूपी रंग सें) सरोबार होकर एक दूसरे से मिल जाते हैं। अब न भक्त है, न भगवन्त। एक प्रेम रूपी रंग से सरोबार हो कर प्रेम ही प्रेम रह जाते हैं। एक दूसरे से छाती से छाती मिलाकर एक हो गये। क्या अद्भुत होली है। धन्य हैं वे लोग जो ऐसी होली नित्य खेलते हैं। हे दयामय! हमको भी अपनी ऐसी होली खेलने का सौभाग्य प्रदान कर।

महात्मा रामसिंह जी महाराज ने उक्त पंक्तियों में हिन्दी साहित्य के रुपक अलंकार द्वारा अत्यन्त रोचक ढंग से ईश्वर भक्त के साधनामय जीवन की समानता हिन्दुओं के होली के त्यौहार से करते हुये इस महत्वपूर्ण तथ्य को समझाया है कि जिस प्रकार होली के दिन लोग पुराना कूडा–करकट एकत्रित करके उसको अग्नि में जलाकर होली की खुशी मनाते हैं और रंग व गुलाल इत्यादि से एक दूसरे को सराबोर करके प्रेमपूर्वक एक–दूसरे से मिलते हैं उसी प्रकार एक भक्त भी अपने गुनाहों को भगवत्–अग्नि रूपी वेदी पर चढ़ाता है अर्थात् अपने गुनाहों को अत्यन्त दीनतापूर्वक स्वीकार करते हुये उसकी दया–कृपा से क्षमा–याचना करता है । इसी प्रक्रिया को आध्यात्मिक साधना की भाषा में ''पश्चात्ताप'' अथवा ''तौबा'' कहते हैं । सभी सन्तों ने साधना–पथ पर अग्रसर होने वाले भक्तों के लिये ''पश्चात्ताप'' अथवा ''तौबा'' को एक अत्यंत महत्वपूर्ण साधन बतलाया है । इस विषय में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि एक प्रभावकारी तौबा के लिये साधक को सतत अन्तर्निरीक्षण द्वारा अपने दोषों एवं गुनाहों को गहराई तथा सूक्ष्मता से देखने का अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि यह मानव स्वभाव की विशेषता है कि मनुष्य अधिकतर अपने सत्कर्मों तथा सदगुणों को ही देखता है; अपने दुर्गुणों को बिरले ही देख पाते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य को अपने सत्कर्मों तथा सदगुणों की प्रशंसा सुनने तथा उसको उनकी और ध्यान जाने में जो आनन्द मिलता है वह मूलतः उसके अन्तःकरण में छिपे हुये अहंकार की ही उपज है, जो स्वयं में एक महान दुर्गण एवं पाप है ।

अतः साधनामय जीवन के प्रथम सोपान के रूप में यथार्थ तौबा अर्थात् पश्चात्ताप के लिये अपने सदगुणों की ओर नहीं, वरन् अपने दुर्गुणों को बड़ी गहराई तथा सचाई के साथ देखने का सतत अभ्यास करना चाहिये और यह अभ्यास उस स्थिति तक पहुँच जाये जिसका वर्णन सन्त कबीर ने इस रूप में किया है :–

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना मुझ से बुरा न कोय।।

जब साधक के अन्तःकरण की यह स्थिति हो जाती है तभी वह अपने गुनाहों के लिये हार्दिक पश्चात्ताप करता है और अपने किये हुये गुनाहों का स्मरण करके वह इतना विह्वल हो उठता है कि उसके नेत्रों से अश्रुधार बह निकलती है । भक्त की ऐसी मनःस्थिति के विषय में पूज्य चच्चा जी महाराज ने अपने उपदेशों में फ़रमाया है कि अपने गुनाहों के लिये पश्चात्ताप करते हुये क्षणभर के रोने में जो बात होती है वह वर्षों के पूजा–भजन में नहीं होती। इस प्रकार का पश्चात्ताप होने पर भक्त को अपने गुनाहों के लिये प्रभु से

दीनतापूर्वक क्षमायाचना करनी चाहिये और साथ ही साथ यह दृढ़ संकल्प करना चाहिये कि अब भविष्य में ऐसा गुनाह नहीं होगा । इस संकल्प के लिये भी प्रभु से यही प्रार्थना करनी चाहिये कि हे ईश्वर तू ही मुझे सामर्थ्य प्रदान कर कि मैं अपने गुनाहों की पुनरावृत्ति न करूँ क्योंकि बिना तेरी अहैतुकी दया.कृपा के मुझमें यह सामर्थ्य ही नहीं कि मैं अपने इस संकल्प को पूरा कर सकूँ । जब भक्त द्वारा हृदय से बारबार इस प्रकार की विनम्रता एवं दीन–भाव से युक्त प्रार्थना होने लगती है तभी भगवान की ओर से उसकी दया–कृपा की बौछार इस भक्त पर विभिन्न रूपों में होनी आरम्भ हो जाती है। इस विषय में हम सभी को यह ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि जब अपने पापों के लिये हार्दिक पश्चाताप होने लगे उस समय पुनः पुनः भगवान को अत्यन्त दीनभाव से इस मनःस्थिति के लिये कोटिशः धन्यवाद देते हुये यह प्रार्थना करते रहना चाहिये कि 'हे दीनानाथ, अपने गुनाहों के लिये यह जो हार्दिक पश्चात्ताप मेरे द्वारा हो रहा है, मुझ ऐसे अधम पापी पर तेरी अहैतुकी दया–कृपा से ही सम्भव हुआ है। मेरा निज प्रयत्न इसमें कुछ भी नहीं है।

महात्मा रामसिंह जी महाराज इन्हीं बहुमूल्य विचारों को निम्नांकित पंक्तियों में कुछ उदाहरण देकर इस प्रकार समझाते हैं:–

होली की विशेषता यह है कि उसमें ऊँच–नीच, छोटे–बड़े, ब्राह्मण–चमार का भेद नहीं रहता। चमार की औरतें उस दिन बड़े. बड़े जमींदारों को छड़ी मार कर फगुआ का गुड़ वसूल करती हैं। इसी प्रकार आज भक्तों को भगवन्त से प्रेम रूपी फगुवा वसूल करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यदि इस जीवन में हमने प्रेम रूपी फगुवा न वसूल कर पाया तो फिर आगे आने वाली होली अर्थात् भविष्य जीवन तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। अतः मेरे प्यारे ! इस वर्तमान होली रूपी जीवन में उत्तम ढंग से होली खेलनी चाहिए। आज यह सुअवसर मिला है, फिर कौन जाने भविष्य में यह अवसर मिले या न मिले।

हरि को भजे सो हरि का होय,
जात–पाँत पूछे ना कोय।
जहाँ प्रेम तहँ नियम नहिं तहाँ न विधि–व्यवहार।
प्रेम मगन जब मन भया, कौन गिने तिथि–वार।।
नमाज़े ज़ाहिदाँ सज़्दः सुजूदी,
नमाज़े आशिकां तर्के, वजूदी।

(vFk&संयमी की नमाज़ ज़मीन पर सर रखकर ईश्वर को प्रणाम करना है और प्रेमी की नमाज़ अपने को भूल जाने में है।)

प्रेमी अपने अहं को त्याग देता है। उसके यहाँ उठक–बैठक, स्नान और शुद्धि का ध्यान ही कहाँ रहता है। उसको अपने प्रेमास्पद अर्थात् परमात्मा के ध्यान के अतिरिक्त अन्य बातों का विचार ही कहाँ रहता है।

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझमें रही न हूँ।
बलिहारी मैं तोहि पै, जित देखूँ तित तूँ।।

(HkkokFk–भक्त अपने जीवन के समस्त कर्मों एवं व्यवहारों का कर्ता. धर्ता अपने को नहीं मानता, वरन् वह सदैव यही अनुभव करता है कि उसके जीवन के सभी कार्यकलाप उस परमात्मा द्वारा ही संचालित हो रहे हैं। इस प्रकार का सतत अभ्यास करते–करते भक्त स्वयं ब्रह्ममय हो जाता है और उसका अंतःकरण अहंकार तथा कर्त्तापन की भावना से पूर्णरूप से मुक्त हो जाता है और यही दशा प्रगाढ़ होने पर उसे चारों ओर उस परमात्मा के ही दर्शन होने लगते हैं और संत तुलसीदास जी के शब्दों में उसका हृदय ऐसी महान पवित्र भावना से ओत.प्रोत हो जाता है :– 'सियाराममय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी'।)

Hkä vkj ukfLrd e: Hkn

अब यहाँ संसार क्या है इसको भी समझ लेना चाहिये अन्यथा त्रुटि हो जाने का भय है। संसार रुपया–पैसा, स्त्री, घर–मकान नहीं है बस ईश्वर को भूल जाने और माया को ही सब कुछ समझ लेने को संसार कहते हैं। जो संसार को ही सब कुछ समझ ले वह नास्तिक है और जो ईश्वर को ही सब कुछ समझे वह मोमिन या भक्त है।

भक्त भगवान के पास सदा बैकुंठ में रहते हैं और जो भक्त नहीं हैं वे दुनियादार (संसार के मोह में लिप्त) और नरकगामी होते हैं– ऐसा वेद, शास्त्र, पुराण सब का मत है। अतः यदि सदा का सुख और बैकुंठ चाहते हो तो आदर्श जीवन व्यतीत करो और इस जन्म में यहीं बैकुण्ठ में निवास करो।

यह भगवत्–प्रेमियों के अतिरिक्त दूसरों के लिये नहीं है। बैकुंठ कहते हैं बे–कुंठ अर्थात् दुख रहित होने को। जिसके हृदय में कुंठा न हो वह सदा बैकुंठवासी है । जो अपने हृदय को कभी

नहीं दुखाता वह बैकुंठ में ही रहता है। जो जिस सीमा तक, जिस समय तक अपने ह्रदय को नहीं दुखाता वह उतने ही समय और सीमा तक बैकुंठ में वास करता है। ह्रदय किसका नहीं दुखता ? अब यह प्रश्न पैदा होता है।

जो अपने को कर्त्ता–धर्त्ता समझता है उसको प्रसन्नता और दुःख दोनों होंगे। और यह निश्चित है कि उसका हृदय दुखे बिना नहीं रह सकता और उसको ह्रदय दुखने के ताप से मुक्ति मिलना असम्भव है, चाहे वह अत्यन्त श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कर्म करता हो, जैसे दान, पुण्य, परोपकार इत्यादि। ऐसा व्यक्ति श्रेष्ठ कर्म करते हुये भी मुक्त नहीं हो सकता। और उसकी गणना दुनियादार में होगी, क्योंकि वह हर एक काम को करने से पहले फल की आशा बांध लेता है। और जब उस आशा के अनुकूल वांछित फल नहीं मिलता तो उसे अवश्य ही दुःख होगा। फल–आशा अपने विचार अर्थात् अपनी धारणा–के अनुसार बाँधी जाती है। उस फल–आशा का पूर्व मूल्यांकन एवं निर्धारण (Estimate) अनुमानित ही होता है जिसमें त्रुटि और उसके न्यूनाधिक होने की सदैव सम्भावना रहती है। चाहे ऐसा पूर्व मूल्यांकन किसी महान निपुण और अनुभवी व्यक्ति द्वारा ही क्यों न किया गया हो, तो भी उसका ठीक–ठीक ज्यों का त्यों फलीभूत होना कठिन है। फिर नितान्त अनुभवहीन व्यक्ति द्वारा किये गये पूर्व मूल्यांकन (Estimate) से ज्यों का त्यों फल प्राप्त होना तो लगभग असम्भव ही है। ऐसी दशा में दुःख उसका निश्चित परिणाम है। इससे यह सिद्ध हुआ कि हम चाहे जितने अच्छे कर्म करें परन्तु यदि उस कर्म के फल की आशा मन में है तो उसका परिणाम कुंठा अर्थात् दुःख अर्थात नरक है इस प्रकार फल की आशा बाँध कर कर्म करने वाले लोग ही दुनियादार, काफ़िर या नास्तिक कहलाते हैं ।

उक्त प्रकार के लोगों से भिन्न लोग भक्त कहलाते हैं, जो अपने को कर्त्ता–धर्त्ता नहीं मानते वरन् ईश्वर को ही कर्त्ता–धर्त्ता मानते हैं और उसके सेवक या गुलाम या बन्दे के रूप में काम करते हैं। वे लोग न फल–आशा का पूर्व मूल्यांकन (Estimate) तैयार करते हैं और न ही कोई आशा रखते हैं। उसके काम का ढंग एक दास की तरह होता है । दास के खाने पीने उसके आराम एवं सुख–सुविधा तथा उसके कपडे–लत्ते आदि की व्यवस्था का उत्तरदायित्व उसके स्वामी पर होता है। अब वह दास अपनी इन सब आवश्यकताओं से निश्चिंत है। चाहे उससे कोई काम लिया जाये या न लिया जाये। उसको उसकी पेट की रोटी बिना किसी

चिन्ता के उपलब्ध है। उसको जो काम सौंपा गया है उसमें लाभ–हानि की उसको कोई चिन्ता नहीं, परन्तु दास की हैसियत से उसका यह धर्म है कि अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार स्वामी का काम ठीक–ठीक धर्मानुसार करे। उसमें लाभ–हानि के लिये वह उत्तरदायी नहीं होता और न उसको किसी प्रसन्नता या दुःख का ही भय होता है। उसको तो सिर्फ धर्मानुसार स्वामी की इच्छानुसार काम करना है। इस काम में त्रुटि होने पर स्वामी उस दास से स्पष्टीकरण माँग सकता है। और यदि वह मालिक की आज्ञानुसार काम करता है तो उसको किसी बात का भय नहीं है। यदि इस दास की समझ में यह भी आ जाये कि हमारा स्वामी अत्यन्त भला है, सर्वशक्तिमान है और हमारे कल्याण और उन्नति के लिये सदैव प्रयत्नशील रहता है और प्रत्येक काम जो हमसे कराता है वह भी हमारे कल्याण और भलाई के लिये है, तो उसको वास्तव में हर समय बैकुण्ठ प्राप्त है और उसको कुंठा यानी दुःख छू नहीं सकते। यदि उसे बैकुण्ठ रुचिकर है तो अपने आप को इस दशा में लाये और परमानन्द प्राप्त किये चले। गीता में इस दशा को निस्त्रैगुण्य (गुणातीत) अवस्था कहते हैं। आदर्श भक्त की यही दशा होती है।

(उक्त पंक्तियों में परम पूज्य रामसिंह जी महाराज ने एक सच्चे ईश्वर. भक्त के लक्षण बड़े ही सरल, रोचक हृदयग्राही ढंग से समझाने की कृपा की है। उन्होंने भक्त की मनोदशा का वर्णन करते हुये अन्तिम पंक्तियों में यह लिखा है कि ''गीता में इस दशा को निस्त्रैगुण्य' अवस्था कहते हैं। गीता के अध्याय 2 के श्लोक 45* में इस अवस्था का वर्णन करते हुए भगवान कृष्ण अर्जुन को इस प्रकार उपदेश देते हैं: ''हे अर्जुन ! वेदों के वर्णन का विषय प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रज और तम हैं। इस लिये तू निस्त्रैगुण्य अर्थात् त्रिगुणातीत होजा, द्वन्द्वों से मुक्त होजा, उस परमात्मा में निरन्तर स्थित रह, योग–क्षेम की चिंता छोड़ दे, आत्मनिष्ठ अथवा ब्रह्मनिष्ठ हो।'' गीता का यह पूरा श्लोक एक ईश्वर–भक्त के सभी लक्षणों को सार रूप में इन विशिष्ट शब्दों द्वारा वर्णन करता है:– 'निस्त्रैगुण्य', 'निर्द्वन्द्व' 'नित्यसत्त्वस्थः' 'निर्योगक्षेम'। यहाँ पर हम लोगों को इन शब्दों के भावार्थ समझ लेना आवश्यक है क्योंकि पूज्य रामसिंह जी महाराज ने उक्त पंक्तियों में एक परम भक्त के जो लक्षण वर्णन किये हैं उन सबका सारतत्व गीता के इस श्लोक में समाहित हो गया है।

* 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।

प्रकृति के विषय में कहा गया है कि सत, रज, तम इन तीनों गुणों से युक्त प्रकृति द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि की रचना हुई है।

यहाँ इस श्लोक में तीनों गुणों के वर्णन का अभिप्राय यह है कि वेदों के उस भाग में जिसमें विभिन्न कर्म–काण्डों अर्थात् यज्ञादि का वर्णन है वह इसी त्रिगुणमयी प्रकृति से उत्पन्न विभिन्न भोग पदार्थों की प्राप्ति की अनेकों कामनाओं से सम्बन्धित है। कोई पुत्र प्राप्ति के लिए एक विशेष यज्ञ करता है, कोई पानी बरसाने के लिए दूसरी इष्टि करता है। भगवान कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं तू निस्त्रैगुण्य हो जा अर्थात् किसी सांसारिक कामना अर्थात् इच्छा की पूर्ति के लिये कोई कर्म मत कर। तू निष्काम भाव से अपना पुनीत कर्तव्य समझ कर प्रत्येक कर्म सम्पादित कर। इसी भाव को भगवान कृष्ण ने इसी अध्याय के श्लोक 47 में इस प्रकार समझाया है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मण।।

कर्म करने मात्र में तेरा अधिकार है, फल मिलना या न मिलना कभी भी तेरे अधिकार में नहीं है। अब इस निस्त्रैगुण्य अवस्था को प्राप्त करने के साथ ही भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तू निर्द्वन्द्व हो अर्थात् तू सुख–दुख, हाानि–लाभ, राग–द्वेष, आदि द्वन्द्वों से मुक्त हो क्योंकि जो अपनी विभिन्न सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिये कर्म करते हैं उन्हें ही यह सुख–दुख, हानि–लाभ आदि द्वन्द्व सताते हैं। किसी कामना की पूर्ति होने पर मनुष्य सुखी एवं प्रसन्न होता है परन्तु जब वांछित कामना की पूर्ति नहीं होती तो उसे दुख होता है। इस सन्दर्भ में भगवान कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं तू योगक्षेम की भी चाहना मत कर। एक निष्काम कर्म करने वाले भक्त को योगक्षेम की कामना या इच्छा नहीं करनी चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान कृष्ण अर्जुन को गीता के अध्याय 9 श्लोक 22 में इस प्रकार देते हैं :–

''जो लोग अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं उन भक्त जनों के योगक्षेम का भार मैं उठाता हूँ।''

'योग' का अर्थ है अप्राप्त की प्राप्ति के लिये यत्न। 'क्षेम' का अर्थ है प्राप्त वस्तु की रक्षा का यत्न। भक्त के योगक्षेम का भार जब भगवान स्वयं वहन करते हैं तो फिर उसे योगक्षेम की चिंता ही क्यों होगी।

इस प्रकार गीता के दोनों श्लोकों में वर्णित एक परम भक्त के लक्षण तथा अनन्य भाव से भगवान की उपासना करने वाले भक्त के लिये भगवान का आश्वासन इन दोनों ही तथ्यों को पूज्य महात्मा रामसिंह जी महाराज ने उक्त अनुच्छेद में अपनी अत्यंत सरल, रोचक एवं हृदयग्राही शैली में समझाने की कृपा की है। अब निम्नांकित पंक्तियों में वह साधकों को भगवान से निष्कपट सच्चा प्रेम करने के लिये इस प्रकार प्रोत्साहित करते हैं :–

भगवान कृष्ण गीता में अर्जुन को उपदेश देते हैं कि 'तू सब धर्मों को छोड़ कर केवल एक मेरी शरण में आजा, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा।' भगवान के जब ऐसे प्रामाणिक वचन एवं भक्त के लिए ऐसा आश्वासन उपलब्ध है फिर भी यदि विश्वास न

किया जाये तो दुर्भाग्य के अतिरिक्त और क्या कहा जाये। भगवान से प्रेम करो प्रेम; और बस बेड़ा पार है। गोकुल की गँवार गोपियों ने जब अपने प्रेम में भगवान कृष्ण को बांध लिया तब क्या पुरुष, और फिर बुद्धिमान कहलाने वाला पुरुष, इसमें असफल रहे, लज्जा की बात है।

गोपियाँ कहती हैं –''कान्ह' भये प्राणमय, प्राण भये कान्हमय, हिये में न जान परे कान्ह हैं कि प्राण हैं।'' सखी कहती है ''मेरे प्राण मेरे प्रिय इष्टदेव में ऐसे मिल गये हैं कि मुझे यही नहीं सूझ पड़ता कि मेरे हृदय में प्राण हैं या कृष्ण विराजमान हैं अर्थात् कृष्ण ही मेरे प्राणरस (जीवन) हो रहे हैं, जैसे दूध में मिलकर पानी एक रूप हो जाता है, इसी तरह मेरे प्राण भी प्यारे कृष्ण की मधुर मुस्कान में मिल कर कृष्णरूप हो गये हैं। हे सखी, इसी कारण से यह प्राण मुझे प्यारे हैं क्योंकि यह कृष्णरूप (या गुरुरूप चाहे जो कुछ कहो) हो गये हैं।'' (कृष्ण का आशय यहाँ अपने इष्टदेव से है उसे राम, सद्गुरु दयाल या और कोई हो)। ''यदि ऐसा न होता तो हे सखी ! मैं कृष्ण से रहित इन शुष्क प्राणों को लेकर क्या करती।''

अतः प्रिय भाई ! इस थोड़े से जीवन में जिसका कोई ठिकाना नहीं है, प्रयत्न करके अपने जीवन का उच्च लक्ष्य प्राप्त कर लेना चाहिये। मनुष्य इस संसार में आकर इस उच्च लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। यदि इस बार भूले तो चौरासी का चक्कर लगाते लगाते न जाने यह अवसर कब प्राप्त हो। पहले तो मनुष्य जीवन मिलना ही बहुत कठिन बात है। ईश्वर ने बड़ी दया व कृपा करके हमको यह मनुष्य जीवन प्रदान किया है। उसने सबसे बड़ी और विशेष दया यह की है कि आप को परमसन्त सद्गुरु महाराज से मिला दिया। सद्गुरु भी कैसा दयालु – कृपालु है कि हर समय हमारी त्रुटियों और अपराधों को अनदेखी करता हुआ सदैव हमारे कल्याण और हमारी उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहता है। इस पर भी हम चूक जायें तो ईश्वर के यहाँ हमारे पास कोई उत्तर नहीं होगा।

भगवत्–प्रेम की महिमा

वास्तव में यह (भगवत्–प्रेम) बड़ी ही अपूर्व एवं अनुपम वस्तु है, जिसकी विशेषता को हमें जान लेना चाहिए। जैसे मनुष्य शराबी के निकट बैठने से शराबी और जुआरी के निकट बैठने से जुआरी बन जाता है, अथवा आग के पास जाने से गर्मी व पानी के पास जाने से ठंडक आना आवश्यक है, वैसे ही प्रभु में प्रेम और ब्रह्म में ध्यान लगाने से यह जीव अपने स्वरूप को छोड़ कर साक्षात् ब्रह्म बन जाता है। यह शक्ति ईश्वर ने मन को दी है और मनुष्य को अधिकार दिया है कि वह जो चाहे बन जाये। पिता पुत्र को पैसा देता है। पुत्र को अधिकार है कि वह पैसे से मिठाई ले ले, चाहे कलम, दवात व पुस्तक खरीद ले, चाहे टोपी ले ले या अफ़ीम ले कर खा ले। ईश्वर ने मनुष्य को विवेक दिया है और सत्य.असत्य को समझने के लिये ईश्वरीय ग्रन्थ प्रदान किये हैं जैसे वेद, कुरआन, गीता इत्यादि और अपने अवतार व सन्त मानव के मार्ग–दर्शन के लिये बराबर भेजता रहता है, जो भक्ति और ज्ञान से सम्बनिधत गूढ़ रहस्यों का अनुभव करके उनको अपने व्यावहारिक जीवन के द्वारा प्रकट करते हैं और इन्हें दूसरों को बतलाने के लिए तत्पर रहते हैं। गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा है :–

तर्क कर सब मिल्लतें, ले मुझ अकेले की पनाह,
फिर मेरा जिम्मा है अर्जुन तेरा बेड़ा पार है।

(भावार्थ– ये पंक्तियाँ गीता के अठारहवें अध्याय के श्लोक 66 के भावार्थ का उर्दू में पद्यानुवाद हैं। इस श्लोक का हिन्दी में अर्थ इस प्रकार हैः– ''सब धर्मों के आश्रय को छोड़ कर तू केवल मेरी शरण में आजा, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा। तू शोक मत कर।'' इस श्लोक के गूढ़ अर्थ को समझ लेना आवश्यक है क्योंकि यही सन्तमत की साधना की आधारशिला है। महात्मा रामसिंह जी महाराज ने उक्त उर्दू पद्यानुवाद में जो 'मिल्लत' शब्द का प्रयोग किया है उसी को गीता के उक्त श्लोक में 'धर्म' शब्द से प्रकट किया गया है। यहाँ 'धर्म' का अर्थ है 'क्या करना है, क्या नहीं करना है इस निर्णय का विचार'। सन्तमत की साधना में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि सद्गुरु, अपने शिष्य को किसी कार्य को पूरा करने के लिए जो आदेश दे, वह यदि ऊपर से सुनने और समझने में धर्मविरुद्ध भी जान पड़े तो उसे अपनी बुद्धि लगाये बिना कर डालना चाहिए, क्योंकि ऐसा आदेश देने के पीछे क्या रहस्य है यह सद्गुरु ही भलीभांति जानता है और समय आने पर सद्गुरु अपनी दया.कृपा से उस रहस्य को शिष्य के समक्ष प्रकट भी कर देता है। मौलाना रूम जो एक उच्चकोटि के सूफ़ी सन्त होने के साथ ही एक महाकवि

भी थे उन्होंने अपने काव्यसंग्रह 'असनवी मौलाना रूम' में एक स्थान पर कविता के रूप में यह लिखा है–''यदि शेख (सद्गुरु) अपने शिष्य को यह आज्ञा दे कि वह जानमाज़, अर्थात् वह दरी या कपड़ा जिस पर खड़े होकर नमाज़ पढ़ी जाती है, उसको शराब में डुबो कर उस पर खड़े होकर नमाज़ पढ़े तो उस शिष्य को ऐसा कर डालना चाहिए, क्योंकि ऐसा आदेश देने के पीछे क्या राज़ (रहस्य) है उसे सद्गुरु अच्छी तरह जानता है। इस्लाम धर्म में शराब का प्रयोग एक दण्डनीय अपराध है परन्तु सद्गुरु ऐसा धर्म विरुद्ध आदेश दे तो शिष्य को उस आदेश का पालन कर डालना चाहिए, बिना यह विचार किये कि वह आदेश धर्म के अनुकूल है या प्रतिकूल। इसी भाव को गीता के उक्त श्लोक में प्रकट किया गया है जहाँ भगवान कृष्ण अर्जुन को यह गुह्यतम उपदेश देते हैं कि तू सभी धर्मों के आश्रय को त्याग कर केवल एक मेरी शरण में आजा मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा। इसी सन्दर्भ में पूज्य चच्चा जी महाराज (महात्मा रघुवर दयाल जी महाराज) की एक घटना उल्लेखनीय है। एक बार पूज्य चच्चा जी महाराज के सत्संग में तमाम ऐसे लोगों की भीड़ एकत्रित होने लगी जो वास्तव में सच्चे श्रद्धालु और जिज्ञासु नहीं थे। एक दिन पूज्य चच्चा जी महाराज ने अपने एक परम शिष्य को यह आदेश दिया कि वह किसी पुस्तकालय से उपन्यास ला कर उन्हें सुनाया करे। यह बात जब उनके परिवार के सदस्यों ने तथा और सत्संगी भाईयों ने सुनी तो सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ परन्तु उनके परम शिष्य ने चच्चा जी महाराज को सुनाना आरम्भ कर दिया। धीरे–धीरे भीड़ कम होने लगी और उन सभी लोगों ने, जो सच्चे जिज्ञासु नहीं थे, जब यह देखा कि वहाँ आध्यात्मिक चर्चा के स्थान पर उपन्यास सुना जाता है तो वहाँ आना बन्द कर दिया। केवल इने–गिने वही पुराने शिष्य, जो पूज्य चच्चा जी महाराज के यहाँ आते थे, आते रहे। जब भीड़ समाप्त हो गई तो पूज्य चच्चा जी महाराज ने उपन्यास सुनना बन्द कर दिया। उन कुछ पुराने शिष्यों ने अपना अनुभव बताया कि जब पूज्य चच्चा जी महाराज उपन्यास सुनते थे तो उस समय उन सभी की एक विचित्र स्थिति हो जाती थी और गहरी समाधि की दशा उत्पन्न हो जाती थी और उपन्यास के शब्द उनको सुनाई ही नहीं पड़ते थे।

पूज्य महात्मा रामसिंह जी महाराज इसी अनन्य शरणा गति की भावना तथा भगवत् प्रेम की महिमा पर प्रकाश डालते हुये अपने बहुमूल्य विचार निम्नांकित पंक्तियों में इस प्रकार प्रकट करते हैं।) :–

त्याग कर संसार को आते हैं मेरी छाँव में,
डाल देते हैं प्रेम की डोरी वे मेरे पाँव में।

जो भगवान को अपने प्रेम की डोरी से बाँध लेते हैं, भगवान उनका रथ स्वयं ही चलाते हैं अर्थात् उनके सारे कार्य स्वयं ही करते हैं।

हे सखा अर्जुन नहीं तुमसे कभी न्यारे हुए,
साथ साये की तरह हैं, चक्र को धारे हुए।
प्रेम की डोरी से तुमने बाँध कर काबू किया,
हाँकते हैं रथ तुम्हारा, प्रेम के मारे हुए।

आत्मनिवेदन

हे जगतगुरु ! जगत को प्रकाशित करने वाले। जगत का अन्धकार दूर कर प्रकाशमय आनन्द धाम में लाने वाले पिता ! आनन्दधारा को बहाने वाले और प्रकाश को उत्पन्न करने वाले प्रभो ! सबके साथ समता का व्यवहार करने वाले हमारे गुरुदेव ! हर एक अणु–परमाणु में प्रकाशमय छटाओं से एकरस होने वाले, हमारे हर चक्र को नाच नचाने वाले भगवान दीन व दुनिया के सूर्य, मेरे प्यारे नाथ ! मुझे बल और बुद्धि प्रदान करो जिससे कि तुम्हारी आज्ञा का ठीक–ठीक पालन कर सकूँ और तुम्हारी इच्छा के अनुसार इस नाशवान संसार में सदाचार का जीवन व्यतीत कर सकूँ। दयामय ! दया करो। इस बहुरूपी महासागर में एकमात्र सहारा तुम ही हो।

हमें हार्दिक दुःख है कि विषयों की आड़ में हम अपने आप को छिपाते रहे और आपके सूर्य रूपी प्रकाश में आने से सदैव डरते रहे ! आपने अपनी दया ओर कृपा से हमारा हाथ पकड़ा है। नाथ ! हमारी रक्षा का भार आप पर है। जैसा तुम्हें अच्छा लगे बना दो। हमारे दयामय ! आप से हाथ जोड़ कर प्रार्थना है कि हमारा मन कभी आपके इस कार्य में बाधक न हो, वरन् आपकी आज्ञा का ठीक ठीक पालन और अनुसरण करने लगे। ऐ दयामय ! दया करो। हम में न बल है, न बुद्धि है, न ज्ञान है, न कर्म करने का बल है और न उपासना करने का साहस है। केवल एक ही सहारा है कि आपने हमको हमारी सब कमजोरियों ;त्रुटियोंद्ध को जानते हुए अपनाया है। इसलिए पूर्ण आशा है कि आप हमारे जीवन को सदाचारी और हमारे अन्तःकरण को शुद्ध और आत्मा को निर्मल बनायेंगे।

हमें पूर्ण आशा है कि आजकल के हकीमों (आध्यात्मिक गुरुओं) की तरह आपने किसी फ़ीस (धन) इत्यादि के लालच से हमारा केस नहीं लिया है (हमारे जीवनोद्धार का उत्तरदायित्त्व नहीं स्वीकार किया) वरन् जब अन्य आध्यात्मिक वैद्यों अर्थात् गुरुओं ने हमारे रोगों को कष्टसाध्य ही नहीं वरन् असाध्य समझ कर इलाज

करने में असमर्थता प्रकट कर दी थी, उस समय आपने हमारा उपचार प्रारम्भ किया है। आपको यह भी ज्ञात था कि हमारे पास न फ़ीस देने को कुछ है और न हम किसी प्रकार से आप की कुछ सेवा ही कर सकते हैं। इस रोगी के मन और शरीर की जो बुरी दशा है उसको भी आपने नाड़ी से भलीभाँति टटोल लिया है और बाहरी लक्षण भी देखकर मालूम कर लिया है। ऐसी दशा में हमसे किसी प्रकार की कोई आशा होने पर भी आपने एकांगी प्रेम से हमारा उपचार शुरु किया है। हम देखते हैं कि आपने बहुत से रोगियों को, जो इसी रोग से ग्रसित थे, अच्छा किया है। यद्यपि हमारा रोग अत्यंत जटिल है परन्तु हमें पूर्ण आशा है कि आपके हाथों से, जो हजरत ईसामसीह के हाथों के समान सभी प्रकार के कष्टों से मुत्ति प्रदान करने वाले हैं, हमको अवश्य लाभ होगा। हमारी केवल यह प्रार्थना है कि हमारा उपचार आपके ही द्वारा हो–चाहे भला हो, चाहे बुरा। हमारे सगे. सम्बन्धी (मन–इन्द्रियाँ) चाहे जितना जोर लगायें, प्रभो ! हमको आप अपने चरणों से पृथक न कीजिए। संसार का नियम है कि वैद्य रोगी की त्रुटियों का विचार न करके रोग को अच्छा करने की चिन्ता में रहता है । फिर आप यह कैसे विचार करेंगे अर्थात् फिर आप मेरी त्रुटियों को कैसे ध्यान में लायेंगे ? इसकी मुझे आशा ही नहीं है, पूर्ण विश्वास है कि आप मेरे रोग का उपचार करते समय मेरी त्रुटियों की तरफ ध्यान नहीं देंगे।

दयामय ! मैं आपके चरणों से अलग न होऊँ । बने या बिगड़े मुझे इसकी कोई चिन्ता न हो। ऐसी मनःस्थिति के लिये आप ही शक्ति प्रदान करें। मुझको आप जानते ही हैं कि मैं ऐसा रोगी हूँ जिसे दवा भी अपने पास से दें और सेवा–निगरानी भी आपके ही जिम्मे है, अर्थात् आपको ही करनी है। और पथ्य भी अपने पास से कराना है और मेरे रोग की दशा–सन्निपात जिससे मैं ग्रसित हूँ उसमें जो कुछ भला–बुरा कह जाऊँ या कर जाऊँ उसको आपको ध्यान भी नहीं देना है।

दयामय ! मैं रोगी हूँ परन्तु आप भी अनुभवी और निपुण सद्–वैद्य हैं जो इलाज कर रहे हैं । अतः पूर्ण आशा है कि मेरी

ओर से सबकुछ खराबियाँ (त्रुटियाँ) होते हुये भी आप मुझको अपने उपचार से अच्छा करेंगे। करुणा–सिन्धु ! दया करो, बुद्धि और बल प्रदान करो, जिससे कि इस भवसागर से छुटकारा पाकर स्वस्थ और बलवान होकर आपकी सेवा योग्य बन पाऊँ। यह बात तो मैं भूल ही गया कि आपके यहाँ तो रोगी को अच्छा करके उसको सद्वैद्य भी बना देते हैं। धन्य हैं मेरे भाग्य और हजार हजार शुक्र (धन्यवाद) है उस करुणासिन्धु दयासागर भगवान का जिसने मुझको आप जैसे महान सन्त की शरण में पहुँचा दिया है। मेरा बेडा अवश्य पार होगा। मैं आप का बारम्बार शुक्रिया अदा करता हूँ (आभार प्रकट करता हूँ) मुझसे कोई त्रुटि और धृष्टता हो गई हो तो, प्रभो, उसको क्षमा करना। मुझे यह भी ज्ञात नहीं कि किस प्रकार आप से प्रार्थना करुँ ।

भगवान्! लोग कहते हैं कि गँवार गोपियों ने प्रेम के पाश में आपको बाँध लिया था। लेकिन उनसे एक अवगुण इस दास में अधिक है। गँवार गोपियों के समान गँवार होने के अतिरिक्त यह दास प्रेम के विषय में शून्य है अर्थात् मुझमें आपके प्रति प्रेम भी नहीं है। इससे मुझको अपने उद्धार में कुछ शंका होती है। परन्तु जब यह विचार करता हूँ कि आप तो केवल एकांगी प्रेम करते हैं और उसके बदले में कुछ नहीं चाहते। जो जितना अधिक निर्धन और दीन है वह उतना अधिक आपका कृपापात्र होता है। तब तो पूर्ण विश्वास हो जाता है कि मुझसा दीन कोई काहे को दुनियाँ में होगा। अतः मेरा नम्बर आपके कृपापात्रों की सूची में प्रथम ही लिखा गया होगा।

ऐ मेरे हृदय का भेद जानने वाले मेरे प्यारे ! तुम जहाँ कहीं और जिस दशा में हो, मुझे अपनी गोद में सदा बिठाये रहो ताकि मैं दुनिया की वासनाओं से बचा रहूँ। हे प्रभो ! तुम जगत के गुरु हो ! प्रेम रूपी सूरज का प्रकाश करने वाले हो और तुम्हारे प्रेम की किरणों से मैं जीवित हूँ। इसलिए तू मुझे सदैव अपनी प्रेम रूपी किरणों से घेरे रह, ताकि में तेरे प्रकाश में समा कर दुई के दुख से दूर हो जाऊं और मैं और तू का झगड़ा सदा के लिये मिट जाये।

ऐ जगत गुरु ! प्रेम और ज्ञान के भंडार ! अपनी अन्तरात्मा के प्रकाश से मुझको प्रकाशित कर।

ऐसा प्रकाशित कर कि जिधर देखूं तेरे अतिरिक्त कुछ दिखलाई ही न पड़े। जिधर देखूं उधर तू ही तू हो।

प्रभो ! तेरे लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है। यह मेरी अत्यन्त तुच्छ इच्छा है और इसके बिना मैं बहुत दिनों से भूखा हूँ। प्रभु ! तेरी ओर से मुझे यह भिक्षा प्रदान हो जावे। आज मैं तेरे द्वार से तृप्त और शान्त होकर जाऊँगा। अब तो मेरी सामर्थ्य और शक्ति का अन्त है। भगवान! अब अधिक प्रतीक्षा न कराओ।